दैनिक जागरण

Date: 12-07-17

विकास का मंत्र है जनसंख्या नियंत्रण

डॉ. नंदिनी सहाय [लेखिका सोशल वर्क एंड डेवलपमेंट स्टडीज की सहायक प्रोफेसर हैं]

भारत विश्व में सबसे पहला देश था जिसने 1952 में परिवार नियोजन कार्यक्रम को राष्ट्रीय स्तर पर शुरू किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पिछले कुछ दशकों में देश की जनसंख्या वृद्धि दर में संतोषजनक गिरावट आई है। 1991 से 2000 में भारत की जनसंख्या वृद्धि दर 21.54 थी, जो अब 2001-2011 में घटकर 17.64 फीसदी हो गई है। इसके बाद भी जनसंख्या जिस हिसाब से बढ़ रही है उससे 2026 तक 40 करोड़ अतिरिक्त लोगों का दबाव हमारे सीमित संसाधनों पर बढ़ जाएगा। यही नहीं भारत जनसंख्या के मामले में चीन को भी पीछे छोड़ देगा। भारत की जनसंख्या बढ़ने का प्रमुख कारण है बढ़ती जन्म दर और घटती मृत्यु दर।

प्राकृतिक आपदाओं एवं महामारी पर काबू पाने और बेहतर चिकित्सीय सेवाओं की वजह से भारत में मृत्यु दर पहले से कम हो गई है। जन्म दर के बढ़ने की गति धीमी होने के बावजूद बढ़ती जनसंख्या विभिन्न समस्याओं का कारण बनी हुई है। आज बेरोजगारी, गरीबी और पर्यावरण पर दुष्प्रभाव जैसी समस्याओं से भारत जूझ रहा है तो इसका एक बड़ा कारण हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या है। जनसंख्या विस्फोट से लोगों को परिचित कराने के लिए 11 जुलाई का दिन जनसंख्या दिवस के तौर पर पूरे विश्व में मनाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की संचालक परिषद की ओर से 1989 में यह दिन मनाना शुरू किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य है व्यक्ति, समाज, सरकार और योजनाकारों के मन में इस विषय से संबंधित समस्याओं के प्रति चेतना और संवेदना जगाना, साथ ही लोगों में बढ़ती हुई जनसंख्या से जुड़ी समस्याओं और खतरों के बारे में जागरूकता फैलाना। इस विशेष दिवस द्वारा लोगों को परिवार नियोजन के महत्व के साथ-साथ माता एवं बच्चे के स्वास्थ्य, लैंगिक समानता, गरीबी, शिक्षा, प्रजनन अधिकार आदि से परिचित कराया जाता है। इसके अलावा बाल विवाह से जुड़ी शारीरिक और मानसिक परेशानियों, यौन रोगों से बचाव जैसे विषयों पर भी जानकारी दी जाती है। विभिन्न गैर सरकारी संगठन, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठन सरकार के साथ मिलकर इस दिवस पर इन मुद्दों के समाधान निकालने का प्रयास करते हैं। यह समझने की जरूरत है कि जब महिलाओं को शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और राजनीतिक भागीदारी द्वारा सशक्त किया जाएगा तभी वे अपने से जुड़ी प्रजनन संबंधित समस्याओं का भी समाधान कर पाएंगी। शोध ने यह साबित किया है कि जो महिलाएं सशक्त हैं वे प्रजनन संबंधित निर्णय सबसे अच्छी तरह से लेती हैं। यह समय की मांग है कि परिवार कल्याण जैसे कार्यक्रमों को घर-घर तक पहुंचाने का कार्य बढ़ा देना चाहिए। विशेष तौर पर पिछड़े वर्ग की महिलाओं, आदिवासी महिलाओं एवं किशोरियों को आशा कर्मचारियों की मदद से परिवार नियोजन और यौन शिक्षा के बारे में जानकारी देने का काम प्राथमिकता के आधार पर किया जाना चाहिए। आने वाली पीढ़ी, चाहे वे लड़कें हो या लड़कियां, सभी को शिक्षित बनाया जाना चाहिए। यह पहले से सिद्ध है कि जिन परिवारों की महिलाएं शिक्षित हैं उनके यहां बच्चों की संख्या कम है। नि:संदेह पुरुषों में भी जागरूकता फैलाना जरूरी है। इस क्रम में इस तथ्य से सभी को परिचित कराने की जरूरत है कि पुरुष नसबंदी एक बहुत ही आसान शल्य प्रक्रिया है। परिवार पूरा होने के बाद सभी पुरुष इसे आसानी से अपना सकते हैं। यह निराशाजनक है कि पुरुषों में इस शल्य प्रक्रिया की स्वीकार्यता न के

बराबर है। इस शल्य प्रक्रिया से जुड़ी भ्रांतियों को दूर करने का काम अभी भी शेष है। प्रजनन स्वास्थ्य से जुड़े कानूनों के बारे में भी पुरुषों, महिलाओं और किशोरियों को परिचित कराने की जरूरत बनी हुई। इस जरूरत की पूर्ति के बाद ही वे स्वास्थ्य संबंधित सुविधाओं को आसानी से प्राप्त कर सकेंगी और अपने आप को असुरक्षित गर्भ से बचा सकेंगी। भारत में अभी भी बहुत बड़ी संख्या में लड़कियों की शादी अल्पायु में हो जाती है। यह स्थिति उन्हें जल्दी और बार-बार गर्भावस्था के चक्र में पहुंचा देता है।

यह उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। बाल विवाह से जुड़े कानून का कड़े तौर पर पालन होना चाहिए ताकि किशोरियां शिक्षा, स्वास्थ्य एवं अन्य सुविधाओं से वंचित न रहें। हम सभी इससे अवगत हैं कि भारत एक पितृसत्तात्मक देश है। अपने देश में एक बड़े वर्ग ने महिलाओं की प्रतिष्ठा उनके बेटे पैदा करने से जोड़ दी है। समाज में फैली इस भ्रांति को दूर करना जरूरी है, क्योंकि यह देखा जा रहा है कि जब तक महिलाएं बेटे को जन्म नहीं दे देतीं तब तक उन पर पति एवं परिवार के बाकी सदस्यों द्वारा बार-बार गर्भधारण करने के लिए दबाव बनाया जाता रहता है। हाल में जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए सरकार ने एक नया कार्यक्रम शुरू किया है जिसे सास-बहू सम्मेलन का नाम दिया गया है। यह कार्यक्रम 146 जिलों में शुरू किया जाएगा। ये जिले उन राज्यों में हैं जहां प्रजनन दर तीन फीसद या फिर इससे ज्यादा है, जबकि चूंकि राष्ट्रीय प्रजनन दर 2.1 फीसद है। अधिक प्रजनन दर वाले राज्यों में उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, झारखंड, छत्तीसगढ़ और असम प्रमुख हैं। हमारे देश में औसत परिवारों में घर की बहू की भूमिका परिवार और परिवार नियोजन के बारे में नगण्य होती है। यह उनके हाथ में नहीं होता कि वह निर्णय लें कि उन्हें बच्चा चाहिए या नहीं या फिर कितने बच्चे चाहिए?सास-बहू सम्मलेनों में कन्या भूरण हत्या को रोकने और पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों की संख्या में कमी जैसी समस्याओं पर भी चर्चा की जाएगी। विश्व जनसंख्या दिवस 2017 की थीम है- ''परिवार नियोजन : लोगों का सशक्तीकरण और राष्ट्र का विकास।'' यह थीम इसकी ओर ध्यान दिलाती है कि सुरक्षित एवं शैक्षिक परिवार नियोजन हर एक नागरिक का अधिकार है और यही लोगों को सशक्त बनाएगा। भारत की आधी आबादी महिलाओं की है। अगर वे सशक्त हो जाएं तो देश जनसंख्या विस्फोट की समस्या से निकलकर प्रगति के पथ पर आसानी से आगे बढ़ जाएगा। यह समझना भी आवश्यक है कि पुरुष और महिलाएं, दोनों के सशक्तीकरण से ही एक उन्नत देश का निर्माण होगा।

दैनिक भास्कर

Date: 12-07-17

विदेश नीति में सही रणनीतिक सोच का अभाव

शशि थरूर (ये लेखक के अपने विचार हैं।) विदेश मामलों की संसदीय समिति के चेयरमैन और पूर्व केंद्रीय मंत्री

पिछले हफ्ते हुई दो विपरीत घटनाओं को साथ में देखने पर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की विदेश नीति की सफलता और विफलता दोनों का इशारा मिलता है। वे फिर एक बार प्रगाढ़ आलिंगन में नज़र आए। इस बार उन्होंने इजरायली प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू को बांहों में भर रखा था और उन्होंने पाया कि उनके मेजबान प्रधानमंत्री भी उन्हीं की तरह उत्साह में भरकर उन्हीं की तरह बातें कर रहे हैं। इधर इस सब के बावजूद भारत-चीन-भूटान की सीमा पर खतरनाक गतिरोध जारी था। दोनों सेनाएं तनावपूर्ण स्थिति में आमने-सामने थीं और बीजिंग से बयानबाजी इस हद तक कटु हो गई, जो 1962 के युद्ध के बाद से सुनी नहीं गई थीं।

इजरायल की यात्रा 25 साल से निरंतर गर्माते रिश्तों की परिणति थी। तब नरसिंह राव चार दशकों से अधिक समय से वाणिज्यदूतों वाले राजनयिक प्रतिनिधित्व को राजदूत के स्तर पर ले गए थे। इजरायल जाने वाले भारतीय प्रतिनिधि अनिवार्य रूप से फिलिस्तीन भी जाते रहे हैं लेकिन, इस बार मोदी ने फिलिस्तीन न जाने का फैसला किया, जो बताता है कि तेल अवीव से रिश्ते परिपक्वता के उस स्तर पर पहुंच गए हैं कि वे अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। हम एक ऐसे देश रहे हैं, जिसे लंबे समय से विदेशियों द्वारा अपनी यात्रा कार्यक्रमों में हमें पाकिस्तान के साथ जोड़ने से चिढ़ रही है। इस पृष्ठभूमि में इजरायल और फिलिस्तीन को अलग करने का हमारा फैसला आत्म-विश्वास का चिह्न भी है।

इसके साथ नई दिल्ली ने प्रधानमंत्री की बहुप्रचारित सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमिरात और ईरान की यात्राओं से अरब जगत की भावनाओं को शांत करने के लिए काफी प्रयास किए। और जब मई में भारत ने फिलिस्तीनी राष्ट्रपति मेहमूद अब्बास की मेजबानी की तो इस बात में कोई संदेह नहीं कि उन्हें पहले ही बता दिया गया होगा कि प्रधानमंत्री की आगामी इजरायल यात्रा का यह मतलब नहीं है कि फिलिस्तीन को न्याय दिलाने की दिशा में लंबे समय से कायम प्रतिबद्धता में कोई कमी आई है। इसके बाद भी अधिकृत क्षेत्रों में कुछ रोष रहेगा, जिस पर नई दिल्ली को आने वाले वक्त में मरहम लगाने का काम करना होगा।मोदी की हाल की विभिन्न यात्राओं से अलग उनकी इजरायल यात्रा यदि सांकेतिकता के साथ सार्थकता से भरी हुई थी और उसमें कुशल राजनय दिखाई देता था तो चीन से लगी सीमा पर टकराव कूटनीतिक कुप्रबंध दर्शा रहा था। यह कल्पना करना कठिन है कि पूरी एक पीढ़ी तक सावधानीपूर्वक विकसित किए गए रिश्ते इतने विनाशक ढंग से निष्फल हो जाएं बशर्ते नई दिल्ली ने अपने लक्ष्य से निगाहें ही न हटा ली हों।

वर्ष 1991 और 2013 के बीच हमने चीन के साथ अपना व्यापार 230 गुना बढ़ाया, दोनों के बीच कई सद्भावपूर्ण यात्राएं हुईं, ब्रिक्स और इसके नए विकास बैंक की स्थापना के दौरान आपसी सहयोग किया। तात्कालिक कारण कुछ भी रहा हो लेकिन, हम ऐसे बिंदु पर पहुंच गए हैं, जहां न सिर्फ हमारे सैनिक विवादित क्षेत्र को लेकर तनावपूर्ण स्थिति में आमने-सामने हैं बल्कि चीन भी निश्चित रूप से लड़ाकू मुद्रा में आ गया है। उसने हाल ही में खोले गए नाथु ला दर्रे से भारतीय तीर्थयात्रियों को मानसरोवर जाने की अनुमति रद्द कर दी है और कह रहा है कि जब तक भारतीय सीमा पीछे नहीं हटती, नई दिल्ली से कोई बात नहीं होगी। चूंकि चीन के इस रवैये से किसी भी बातचीत के नतीजे का आकलन किया जा सकता है, दोनों के बीच तनाव में यह उल्लेखनीय वृद्धि है और अब पहले झुकने की जिम्मेदारी भारत पर है, जो दिल्ली की कोई भी आत्मभिमानी सरकार नहीं करेगी।इस बीच चीन सरकार द्वारा नियंत्रित आधिकारिक मीडिया बेलगाम हो गया है। उसने 1962 के युद्ध को याद करते हुए भारत को तब सिखाए सबक याद दिलाने की बात कही है। उसने कहा कि भारत में सिक्किम के विलय और भारत पर भूटान की निर्भरता के मुद्दों पर चीन फिर विचार करेगा। यह भड़काने वाली और आक्रामक भाषा है, जो साफ बताती है कि सारा लिहाज छोड़कर धमकी दी जा रही है।नई दिल्ली ने स्थिति को इतना खराब कैसे होने दिया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि चीन हमारे प्रति कोई खासतौर पर मित्रतापूर्ण नहीं रहा है। परमाणु आपूर्ति समूह (एनएनजी) में हमारे प्रवेश और संयुक्त राष्ट्र में पाकिस्तानी आतंकी मसूद अजहर को ब्लैकलिस्ट करने का इसके द्वारा किया गया विरोध तो यही बताता है। क्या हम उनकी बहुप्रचारित ओबीओआर बैठक में जाकर (सीपीईसी के पाक अधिकृत कश्मीर से गुजरने से होने वाले हमारी सम्प्रभुता के उल्लंघन के विरोध को व्यक्ति भी कर देते) उसके रवैये को नरम बना सकते थे? क्या हम बीजिंग से बेहतर रिश्ते बना पाते यदि ओबीओआर के इरादे का स्वागत करते लेकिन, यह सुझाव भी देते कि एक रोड भारतीय क्षेत्र में गुजरात के बंदरगाहों तक भी बनाया जा सकता है, सिर्फ यह दिखाने के लिए हम उसके भव्य विज़न के आड़े नहीं आना चाहते।

कोई नहीं जानता, लेकिन ऐसा इसलिए भी है कि मोदी सरकार में कोई भी रचनात्मक दृष्टिकोण से सोचता दिखाई नहीं देता। चीन के साथ टकराव दिल्ली में संगत रणनीतिक सोच के खतरनाक अभाव की ओर भी इशारा करता है। प्रधानमंत्री की हाल की दुनियाभर की यात्राओं ने बेशक विश्व मंच पर उनकी व्यक्तिगत उपस्थिति ने छाप छोड़ी है। बरसों तक हम इससे वंचित रहे हैं। लेकिन उनकी किसी भी यात्रा से कोई ठोस उपलब्धि खोज निकालना बहुत कठिन है। फिर चाहे आकलन करने लायक स्पष्ट फायदे हों(जैसे बढ़ा हुआ निवेश) या फिर उतने महसूस न किए जाने वाले लेकिन उतनी ही महत्वपूर्ण नीतिगत उपलब्धियां, जिनकी ओर विभिन्न नेता अपने प्रेरक शक्ति के उदाहरण के रूप में इशारा करते हैं। बिना स्पष्ट रणनीति के असंगत नीति निर्माण का पाकिस्तान सबसे खराब उदाहरण है। अब चीन भी उसी श्रेणी में आ गया है। एक देशभक्त भारतीय के रूप में मैं निश्चित ही आशा करता हूं कि नई दिल्ली पहले न झुके लेकन, मैं यह भी उम्मीद करता हूं कि हम सोचना शुरू करें। क्योंकि जिन्हें दुनिया में हमारे स्थान की चिंता है, उनके लिए सोचने को बहुत कुछ है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 12-07-17

दुग्ध क्रांति में निहित कृषि क्षेत्र के सबक

श्वेत क्रांति दूध के वितरण और प्रसंस्करण में सुधार पर आधारित थी। बागवानी क्षेत्र इससे कई सबक ले सकता है। इस संबंध में विस्तार से जानकारी दे रहे हैं अशोक लाहिड़ी

हाल ही में देश के अलग-अलग राज्यों में कृषि ऋण की माफी की गई। इसकी कुल राशि वर्ष 2017-18 के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के करीब 1.0-1.5 फीसदी के बराबर होगी। यह बात जाहिर करती है कि हमारी कृषि के साथ कहीं न कहीं कुछ तो गलत है। इस प्रकरण ने कृषि सुधार के मुद्दे को एक बार फिर चर्चा में ला दिया है। ऋण माफी को घोषणा के बाद वापस नहीं लिया जा सकता है। लेकिन इनकी बदौलत कृषि क्षेत्र की दिशा और सुधारों की गति पर अवश्य चर्चा हो सकती है। इनकी मदद से ही इसे स्थायी विकास की राह पर लाया जा सकता है। दूध से जुड़ी श्वेत क्रांति से जुड़े तीन सबक इस संदर्भ में प्रासंगिक हैं। वर्ष 1951-52 से 1971-72 तक दो दशक में देश में दूध का उत्पादन 1.7 करोड़ टन से बढ़कर महज 2.2 करोड़ टन तक पहुंचा था। दूध सस्ता था लेकिन सन 1960 के दशक के आखिर और 1970 के दशक के आरंभ तक वह शहरों में सरकारी दुकानों में आसानी से मिलता नहीं था। श्वेत क्रांति के आगमन के साथ ही अगले दशक में हर बार दूध का उत्पादन दोगुना बढ़ा। सन 1991-92 में यह 5.6 करोड़ टन हुआ तो वर्ष 2011-12 में 12.8 करोड़ टन। राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड (एनडीडीबी) की स्थापना सन 1965 में की गई थी। उसने यूरोपीय संघ द्वारा विश्व खाद्य कार्यक्रम के तहत दिए गए दूध पाउडर और बटर ऑयल की बिक्री के साथ ऑपरेशन फ्लड की शुरुआत की। इस दुग्ध क्रांति के तीन उद्देश्य थे। पहला, ग्रामीण आय में सुधार करना, दूध उत्पादन में स्थायित्व लाना और ग्राहकों तथा उत्पादकों के लिए उचित मूल्य की व्यवस्था करना। इस कार्यक्रम के मूल में आणंद शैली थी। यानी देश के अलग-अलग हिस्सों में सहकारी दूध उत्पादकों से दूध खरीदना। गुजरात के सहकारी दूध वितरण संघ लिमिटेड को अमूल का ब्रांड नाम दिया गया। इसके पास गुजरात के 35 लाख से अधिक दूध

उत्पादकों का स्वामित्व था। यह देश भर में जाना पहचाना नाम बन गया। समय बीतता गया और सरकारी संस्थाओं मसलन दिल्ली दुग्ध योजना (डीएमएस) अथवा बिहार स्टेट डेयरी कॉर्पोरेशन को एनडीडीबी के हवाले कर दिया गया। आमतौर पर कृषि क्षेत्र की सफलता दूध तक सीमित रही। यह भी सच है कि दूध में कुछ ऐसी विशिष्टाताएं होती हैं जो उसे अन्य कृषि उत्पादों से अलग करती हैं। उदाहरण के लिए दूध उत्पादन अन्य कृषि कार्यों के तुलना में आसान है। उसकी खरीद, परिवहन और भंडारण आसान हैं। चावल की बात करें तो वह बासमती, गोविंदभोग और सोना मसूरी जैसी कई किस्मों में आता है। दूध के साथ ऐसा नहीं है। दूध हर मौसम में हर रोज खरीदा जाता है। जबकि आम जैसी मौसमी जिंसों के साथ ऐसा नहीं है। इन तमाम विशेषताओं के बावजूद दूध से तीन अहम सबक सीखे जा सकते हैं। इनमें सबसे अहम है सरकारी हस्तक्षेप की एकदम सहज प्रकृति। पहली बात तो यह है कि दूध उत्पादन-खरीद की प्रक्रिया में सरकारी कंपनियां नहीं बल्कि सहकारी समितियां शामिल होती हैं। यह तरीका न्यूजीलैंड, नीदरलैंड और डेनमार्क में 19वीं सदी से ही आजमाया जा रहा है। दूध में प्रवेश बाधाएं बहुत कम हैं क्योंकि कोई बड़ा सरकारी प्रतिष्ठान इससे नहीं जुड़ा हुआ है। इसके चलते खरीद, परिवहन, भंडारण और वितरण के काम में बेहतरीन प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हुई। सन 1991 में दूध को लाइसेंस व्यवस्था से बाहर कर उसे मिल्क ऐंड मिल्क प्रोडक्ट ऑर्डर (एमएमपीओ) 1992 के अधीन कर दिया गया। यह व्यवस्था अनिवार्य जिंस अधिनियम 1955 के तहत की गई। वर्ष 2011 में समापन से पहले एमएमपीओ बड़ी डेयरियों से दूध की आपूर्ति सुनिश्चित करने का काम करता रहा।

गेहूं और चावल जैसी फसलों में सरकारी हस्तक्षेप अलग किस्म का रहा। भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई) की स्थापना एनडीडीबी से एक साल पहले सन 1964 में की गई थी। एफसीआई का काम था किसानों के हितों की रक्षा के लिए मूल्य समर्थन नीतियों का इस्तेमाल, देश भर में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के जरिये खाद्यान्न वितरण और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा के लिए अनाज का भंडारण। अप्रैल 1973 में तो इंदिरा गांधी के शासनकाल में गेहूं के थोक कारोबार का राष्ट्रीयकरण करने का प्रयास भी किया गया। अनाज की खरीद बिक्री-न्यूनतम समर्थन मूल्य, एफसीआई का बिल बोझ एक बड़े पीएसयू पर पड़ा जिसने इसे राजनीतिक दबाव की दृष्टि से संवेदनशील बना दिया। फरवरी 2014 में पंजाब चुनाव से पहले प्रधानमंत्री मोदी ने कहा था कि एफसीआई को तीन हिस्सों में बांट देना चाहिए। जो क्रमश: खरीद, भंडारण और वितरण का काम करें।जनवरी 2015 में शांता कुमार की अध्यक्षता वाली एक उच्च स्तरीय समिति ने एफसीआई के पुनर्गठन संबंधी रिपोर्ट पेश की। रिपोर्ट में अनुशंसा की गई कि आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, हरियाणा, मध्य प्रदेश, ओडिशा और पंजाब में गेहूं खरीद का काम राज्य सरकार करें। कहा गया कि पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल और असम में एफसीआई को इस काम में मदद दी जाए। यह वह इलाका है जहां छोटी जोत के किसान ज्यादा हैं और फसल एमएसपी से कम दाम पर बिकती है। अब वक्त आ गया है कि या तो प्रधानमंत्री के सुझाव या शांता कुमार समिति की सिफारिश पर काम किया जाए।

दूसरी बात, दूध के लिए कभी कोई एमएसपी नहीं रहा। उसकी वजह से कम से कम 23 फसलों के दाम में विसंगति आती है यह बात खुद समिति ने मानी। इसके अलावा एफसीआई की खरीद गेहूं और चावल की एमएसपी खरीद पर निर्भर है। सरकार को एमएसपी नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए। तीसरा, बागवानी में देश ने काफी प्रगति की है। 26.9 करोड़ टन के उत्पादन के साथ वर्ष 2012-13 में यह खाद्यान्न से ऊपर निकल गई। लेकिन इस क्षेत्र में अभी काफी कुछ किया जा सकता है। इसकी मांग तेजी से बढ़ रही है। फलों और सब्जियों के क्षेत्र में श्रम को प्रोत्साहन रहता है और मूल्य भी अच्छा मिलता है। इनका उत्पादन छोटे किसानों को भी समृद्ध बना सकता है। इसके लिए शीत गृहों की जरूरत होगी और ढुलाई की समुचित व्यवस्था की भी। देश में कन्वेयर बेल्ट व्यवस्था की काफी कमी है जिसका असर उत्पादों को धोने, सुखाने, छांटने, पैक करने आदि में होता है। इसके अलावा सामग्री को अच्छी स्थिति में रखने के लिए रेफ्रिजरेशन वाहनों की आवश्यकता भी है।श्वेत क्रांति में दूध प्रसंस्करण और वितरण के बुनियादी ढांचे के विकास की अहम भूमिका रही है। इसके तहत स्वचालित दुग्ध संग्रहण केंद्र स्थापित किए गए। ग्रामीण स्तर पर ठंडा करने के संयंत्र, प्रसंस्करण और पैकेजिंग की स्थापना की गई। दूध को 4 डिग्री सेल्सियस तापमान पर ढोने के लिए टैंकर तैयार किए गए। दूध क्षेत्र से बागवानी को यह सबक मिलता है कि निजी क्षेत्र की पहल के जरिये समुचित बुनियादी ढांचा विकसित किया जाए।

Date: 12-07-17

सामाजिक निरंकुशता की हो सकती है बड़ी कीमत

टीसीए श्रीनिवास-राघवन

पिछले तीन वर्षों से एक पुराना शब्द 'निरंकुशता' दोबारा इस्तेमाल होने लगा है। 'असहिष्णुता' का भी खूब प्रयोग हो रहा है। भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य (1757-1947) के बारे में चर्चा करते समय इतिहासकारों और राजनीतिज्ञों ने निरंकुशता पर बहुत कुछ कहा है। मेरी राय है कि ब्रिटिश हुक्मरानों ने जब भारत की 99.9 फीसदी आबादी को 99.9 फीसदी समय असहाय ही बनाकर रखा तो वे निरंकुश नहीं हो सकते थे। वे लालची, लोभी, पाखंडी और नस्लभेदी तो हो सकते थे लेकिन उन्हें निरंकुश कहना मुश्किल है। निरंकुशता का जन्म तो उस समय होता है जब सरकार लोगों की जिंदगी में दखल देती है और उनकी जिंदगी के हरेक पहलू को नियंत्रित करने की कोशिश करती है।ऐसे में हमें निरंकुशता और असहिष्णुता को 1947 के बाद की घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में ही देखना होगा। भारत में निरंकुशता तीन स्वरूपों में नजर आती है। यह किसी समय इकलौते स्वरूप या दोहरे स्वरूप में दिख सकती है तो कभी तीनों स्वरूप एक साथ नजर आ सकते हैं। हमने भारत में इन स्वरूपों को देखा है। निरंकुशता के राजनीतिक स्वरूप के बारे में चर्चा करना हर किसी को पसंद है। इसका ताल्लुक पुलिस के साथ लोगों के संबंधों से है जो कभी भी सहज नहीं रहा है। हमने 1975-77 के दौरान लगे आपातकाल में निरंकुशता के इसी स्वरूप को देखा था।

दूसरा स्वरूप आर्थिक निरंकुशता का है। यह 1950 के दशक के मध्य से ही वजूद में है। इसका मतलब है कि अगर आप कारोबारी हैं तो सरकार की मंजूरी के बगैर अपना पैर भी नहीं हिला सकते हैं। यह निरंकुशता का कम-तीव्र स्वरूप है क्योंकि चारों तरफ फैली घूसखोरी इसके असर को काफी हद तक कम कर देती है। निरंकुशता का तीसरा स्वरूप सामाजिक है। भारत में सामाजिक निरंकुशता पिछले 2,000 वर्षों से जाति व्यवस्था के सघन होने से चलती आ रही है। आजादी के बाद हमने इसका एक नया स्वरूप सांप्रदायिक निरंकुशता भी जोड़ दिया है। वर्ष 2014 के बाद से सांप्रदायिक निरंकुशता उभार पर है। पहली दो तरह की निरंकुशता में सरकार सक्रिय भूमिका में होती है क्योंकि पुलिस, प्रशासन और/या मंत्री भी उसमें शामिल होते हैं। लेकिन तीसरी तरह की निरंकुशता में यह एक निष्क्रिय एजेंट होता है। सरकार में शामिल दल सारी गड़बडिय़ां करते हैं लेकिन सरकार सब कुछ सामान्य होने का दिखावा करती है। उस मायने में सरकारें एक तरह से उत्प्रेरक होती हैं।

इस तरह अगर 1970 के दशक में द्रमुक ने तमिलनाडु में जातिगत निरंकुशता कायम की थी तो आज के समय भाजपा सरकार सांप्रदायिक निरंकुशता की इजाजत दे रही है। वैसे द्रमुक ने जातिगत निरंकुशता के दौर में भी कभी ब्राह्मणों के खिलाफ हिंसा की बात नहीं की। हिंसा उत्तर भारत की ही खासियत है। लंबे समय तक सत्ता में रही कांग्रेस आर्थिक और राजनीतिक निरंकुशता को प्रश्रय देने में काफी आगे रही है। ऐसे में आज जब कांग्रेस निरंकुशता की बात करती है तो वह केवल उसके एक खास स्वरूप की चर्चा कर रही होती है। कांग्रेस का कहना है कि भाजपा समाज के एक खास तबके के प्रति अत्याचार और भीड़ की हिंसा को अपनी सहमति देती रही है। कांग्रेस के मुताबिक इस तबके का इकलौता दोष यह है कि वे मुस्लिम हैं। जहां तक आर्थिक निरंकुशता का संबंध है तो कांग्रेस ने ही समाजवाद के नाम पर देश की आर्थिक प्रगति को रोक रखा था। केंद्रीयकरण वाली इस विरासत के साथ हम अब भी जी रहे हैं जिसे शायद भाजपा भी पसंद करती है लेकिन उसे न चाहते हुए भी यह छोडऩा पड़ रहा है।कांग्रेस ने एक समय राजनीतिक निरंकुशता को एकदम नए मुकाम तक पहुंचाया था। वर्ष 1975 में संविधान में किए गए 38वें संशोधन ने सरकार को नागरिकों के मौलिक अधिकार भी खत्म करने की इजाजत दे दी। उसी साल किए गए 39वें संविधान संशोधन ने राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और लोकसभा अध्यक्ष को लगभग हर तरह के मामलों में अदालतों के अधिकार क्षेत्र से बाहर कर दिया। और संविधान में किया गया 42वें संशोधन तो 'इंदिरा संविधान' के रूप में ही जाना गया। उस संशोधन ने कानूनों कीसंवैधानिक वैधता से जुड़े पहलू

पर विचार करने की अदालतों की शक्तियां ही सीमित कर दी थीं। उसमें नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों की भी सूची पेश की गई थी। इस तरह के संवैधानिक बदलावों को अमलीजामा पहनाने वाली वही पार्टी कांग्रेस आज एक देश के तौर पर भारत की अवधारणा की बात करती है।

निरंकुशता के इस स्वरूप से निपट पाना निश्चित रूप से सबसे मुश्किल है। इसकी वजह यह है कि इसमें सरकार नहीं बल्कि हिंसक भीड़ नागरिकों से कुछ खास तरह की मांगें रखती है। सरकार भी इस पूरी कवायद में कोई सक्रिय भूमिका नहीं निभाकर इसे उत्प्रेरित करने का काम करती है। यह वैसा ही है जब कोई पक्षपाती अभिभावक आपके टीवी को नुकसान पहुंचा रही अपनी हुड़दंगी संतान की हरकत को भी नजरअंदाज कर देता है।वर्ष 2014 के बाद पिछले तीन साल में यह एक गंभीर समस्या बन चुका है। सरकार ने इस तरह की निरंकुशता को कभी-कभार लताड़ लगाई है लेकिन उत्तर भारत में मौजूद उसके समर्थकों पर शायद ही कोई असर पड़ता है। सरकार के कुछ अधिक बुद्धिजीवी समर्थकों ने आंकड़े पेश करते हुए इस आरोप को ही नकारने की कोशिश की है। लेकिन सवाल आंकड़ों का नहीं है। इसका ताल्लुक अपने युग की चेतना से है जिसे जर्मन दार्शनिकों ने 'जिटगिस्ट' कहकर पुकारा है। भीड़ की हिंसा के बाद गिरफ्तारियां होने से भी इस युगचेतना में बदलाव नहीं होने वाला है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को अपनी सरकार के तीन साल के कार्यकाल पर लगे इस बदनुमा धब्बे का वजूद स्वीकार करना होगा। इसकी राजनीतिक कीमत काफी बड़ी हो सकती है। आखिर उसे अपना बहुमत खोने के लिए 2019 के लोकसभा चुनाव में केवल 12 सीटें ही गंवानी होंगी।

जनसत्ता

Date: 11-07-17

मोसुल की मुक्ति

संपादकीय

इराक के दूसरे सबसे बड़े शहर मोसुल को नौ महीने की कड़ी लड़ाई के बाद इराकी सेना ने आइएस (इस्लामिक स्टेट) के कब्जे से मुक्त करा लिया है। 2014 में 'स्वघोषित खलीफा' अल बगदादी की अगुआई में आइएस ने इराकी सेना को पछाड़ कर इस पर कब्जा कर लिया था। कच्चे तेल से संपन्न इस शहर को बगदादी ने अपनी राजधानी बनाया था, जहां से उसने इराक के कई दूसरे शहरों और ग्रामीणों इलाकों में अपनी समांतर सत्ता कायम कर ली थी। तीन साल से चल रही इस लड़ाई में दस लाख लोग घरबार छोड़ भाग गए और हजारों लोग मारे गए। मोसुल की इमारतें, बाजार, रिहाइशी बस्तियों का करीब अस्सी फीसद हिस्सा तबाह हो चुका है। यह खूबसूरत शहर अब वीरान और बदहाल है। जाहिर है, मोसुल की मुक्ति के बाद अब वहां सबसे बड़ी चुनौती नागरिक सेवाएं बहाल करने तथा पुनर्निर्माण की है।नौ महीने पहले शुरू हुए घमासान में दोनों तरफ से बड़ी संख्या में लोग मारे गए हैं, लेकिन अभी तक कोई अधिकृत आंकड़ा जारी नहीं हुआ है। संयुक्त राष्ट्र ने कहा है कि इस शहर को दोबारा आबाद करने के लिए एक अरब डॉलर से ज्यादा खर्च आएगा। गौरतलब है कि इस जंग में अमेरिका के 'एलाइट काउंटर टेररिज्म सर्विस' के सैनिकों ने आइएस को मार भगाने में हवाई हमले करके और जमीन पर भी इराकी सेना का साथ दिया। आइएस का उदय 2014 में हुआ, जब मध्य एशिया और अफ्रीका महाद्वीप के कई मुसलिम देशों में बगावत हुई और लंबे अरसे से शासन जमाए बैठे सत्ताधीशों को विद्रोहियों ने गद्दी से हटा दिया। उस समय लगा कि यह सब किसी क्रांतिकारी बदलाव के लिए हो रहा है, लेकिन इसकी असलियत जल्द ही सामने आ गई। इस संगठन ने 29 जून 2015 को अबू बकर अल बगदादी को अपना 'खलीफा' बना दिया और दुनिया के मुसलिम-बहुल देशों को अपने कब्जे में लेने की घोषणा कर दी। इराक और सीरिया में सक्रिय इस संगठन में सुन्नी मुसलमानों का वर्चस्व है और अनुमान है कि इसका

बजट दो अरब डॉलर का है। आत्मघाती हमले समेत हर तरह की आतंकी वारदात को अंजाम देने और अपहरण कर फिरौती वसूलने में आइएस के लोग माहिर हैं।

इराक और सीरिया के तेल के दस बड़े कुओं पर आइएस ने शुरू में कब्जा कर लिया था, लेकिन यह सब उसके हाथ से धीरे-धीरे निकल रहा है। रूस की मदद से सीरिया सरकार ने आइएस को काफी नुकसान पहुंचाया है, हालांकि लड़ाई का अंत अभी नहीं हुआ है। एक मोटा अनुमान है कि आइएस के पास दस हजार लडाÞके हैं। आइएस की ताकत के पीछे अरब जगत के कुछ देशों की परोक्ष सहायता भी थी। लेकिन विशेषज्ञों का मानना है कि मोसुल से कब्जा हटने के बाद इसकी कमर काफी हद तक टूट गई है। आइएस के कब्जे वाले तीन बड़े शहर तिकरित, रामादी और फजुल्लाह पहले ही मुक्त कराए जा चुके हैं। फिर भी इसे आइएस का खात्मा नहीं मान सकते। इस पराजय से उसे करारी चोट जरूर पहुंची है, पर ग्रामीण इराक के कुछ हिस्सों पर उसका कब्जा अब भी कायम है। फिर, कुछ बरसों से वह दुनिया का सबसे खतरनाक आतंकवादी संगठन रहा है। लिहाजा, सतर्कता में कमी नहीं आनी चाहिए।

THE HINDU

Date: 11-07-17

The great Indian migration

The socio-economic aspects of north-south migration need to be analysed

Diego Palacios is UNFPA Country Representative (India) and Country Director (Bhutan)

Despite the decline in total fertility rates (TFR) countrywide, 12 States continue to have TFR above 2.1 children per woman, known as replacement-level fertility. However, when the TFR declines, the drop does not stop at 2.1, as seen in Kerala (1.6), Tamil Nadu (1.7) and Karnataka (1.8). This leads to faster changes in the population structure characterised by a reduction in the proportion of young people and an increase in the proportion of the elderly.When all the States in India are clustered in terms of fertility levels, one sees a predominantly youthful north and a maturing south and west. This demographic divergence between States and regions is important from the policy perspective and forward-looking development planning.

Most of the current and future demographic potential is locked in the northern States, and largely located in Bihar, Jharkhand, Madhya Pradesh, Rajasthan, and Uttar Pradesh. As per population projections, these five States will account for more than 55% of population growth in India till 2030. Those who are under 15 years of age today will become India's working population in the coming decades, and almost every second person in this age group resides in these five States.

Migration-friendly planning

The proportion of the elderly started increasing in the southern States several years ago. Now, the phenomenon has extended to the western, extreme northern and eastern States. In the coming decades, they will require a young workforce to keep institutions functioning efficiently, and also to take care of the elderly. This need is likely to be met by people from the youthful north, with many moving to the ageing States. Already, the migration trend is evident, with established flows of young people from these States to other parts. The

divergent demographic transition in the high-low TFR States will add further impetus to this movement in the coming decades.The socio-economic implications of young people heading south, leaving the children and elderly behind, need to be analysed. The challenges of moving into new communities that speak different languages and have different cultures need to be understood and addressed. Along with the migrants, the issues of the locals must also be appreciated.There is a need to gain deeper understanding of migration flows, so that estimations and projections can be made regarding changing need for housing and infrastructure, health care and utilities, education and skills. States need to work together to provide portability of identity proof and entitlements, as well as build support systems for families left behind.India urgently needs to take cognisance of the divergent demographic transition trends. Timely strategic action can develop human capacities to cater to future needs and build rights-based policies that work for migrants as well as locals. All adding up to help optimise development, employment and collaboration across States in the country

---

Date: 11-07-17

Bring the House up to date

The balance between fundamental rights and parliamentary privilege must be re-examined

Faizan Mustafa is Vice-Chancellor, NALSAR University of Law, Hyderabad. The views expressed are personal

Thomas Thorpe, Speaker of the House of Commons, was arrested for the non-payment of some small fine in 1453; parliamentarian Strode was arrested in 1512 for introducing Bills which the Crown did not like; Elliot, Hollis and Valentine were arrested in 1629 for what the Crown considered to be seditious speeches in the House. Parliamentary privileges originated during the long struggle for democracy and citizen's rights in Britain, between a monarch and Parliament as kings used to get members who spoke or were likely to speak against the king arrested. Today, our legislators get citizens and journalists arrested.

In our parliamentary democracy, where Parliament enjoys almost supreme powers, legislators face no threat from government. In fact privileges have become a tool in the hands of the ruling party. The case of the Karnataka Assembly imposing fines and imprisonment on two journalists for writing something against the Speaker when he was a legislator and against another legislator has once again revived the debate about the need for codifying privileges and giving primacy to a citizen's right to free speech over legislative privileges.

An evolution

Why shouldn't our legislators' freedom of speech, like the freedom of speech of citizens, be subject to the sovereignty and integrity of the nation, public order, friendly relations with foreign states, incitement of an offence or defamation as mentioned in Article 19(2)? The 'sovereign people of India' have a restricted right to free speech but 'their servants or representatives' have an absolute freedom of speech in the Houses. Even if one may reluctantly concede such a privilege to them in the interest of the smooth conduct of the House, why should there be the power to send people to jail for the breach of privileges? The Supreme Court's decision in *M.S.M. Sharma* (1958), giving primacy to the privileges over free speech, was made in the first decade of the Republic during which the court had a lot of respect for legislators — most of them were freedom fighters. However, by 1967, the Supreme Court was convinced that Parliament should not have absolute powers.

Too wide a power

Our legislators have the power to be the sole judges to decide what their privileges are, what constitutes their breach, and what punishment is to be awarded in case of breach. Is this not too wide a power which clearly impinges on constitutionalism, i.e. the idea of limited powers? The fault lies with the framers of the Constitution, who, while drafting the lengthiest constitution of the world, have left the vital area of legislative privileges undefined.

Articles 105 and 194 clearly lay down that the "power, privileges and immunities of the legislature shall be as may from time to time be defined by the legislature, and until so defined, shall be those of the House of Commons". The expression "until so defined" does not mean an absolute power not to define privileges at all. Legislators have been arguing that codification of privileges will harm the sovereignty of Parliament. Is Indian Parliament really sovereign? We want a uniform civil code but our parliamentarians do not want a codification of their privileges which will not require more than a couple of articles.Moreover, the drafters of the Constitution also committed the mistake of putting Indian Parliament on a par with the British House of Commons. De Lolme's statement about the supremacy of British Parliament, that "Parliament can do everything but make a man a woman and a woman a man", is not applicable to India. British Parliament was also the highest court till 2009. Thus, Indian legislatures and British Parliament differ not merely as regards their general political status but also in the matter of legal powers. Unlike England, in India the Constitution is supreme, not Parliament. Today by sovereignty, we mean "popular sovereignty" and not "parliamentary sovereignty". The opening words of the Constitution are "we the people" and not "we the legislators of India."

A comparison

The codification of privileges is basically resisted because it would make the privileges subject to fundamental rights and hence to judicial scrutiny and evolution of new privileges would not be possible. In fact, the British House has itself broken from the past. Acts and utterances defamatory of Parliament or its members are no more treated as privilege questions. The U.S. House of Representatives has been working smoothly without any penal powers for well over two centuries. Australia too codified privileges in 1987.

It is strange that our legislators, to cover up corruption, not only took cover behind privileges but also pleaded in courts that they were not even 'public servants'. In the *Hardwari Lal* and *A.R. Antulay* cases, the court did accept their contention and held that MLAs are not 'public servants'. In the *P.V. Narasimha Rao* case, though they were held as public servants, the Supreme Court, in a controversial judgment, held that they can legally take bribes and vote as per the desire of the bribe-giver and hey will not be liable for corruption because, under legislative privileges, they cannot be questioned "in respect of any vote" given by them.Our legislators also have protection from arrest in civil cases 40 days before the session, during the session and 40 days after the session. The exemption from arrest is also available for meetings. If we count the days of three parliamentary sessions and meetings then our MPs have protection from arrest for more than 365 days in a year. Is it not absurd?

The Constitution Review Commission headed by Justice M.N. Venkatachaliah had recommended that privileges should be defined and delimited for the free and independent functioning of the legislatures.The restrictive interpretation of the Supreme Court holding freedom of speech subject to legislative privileges is not in tune with modern notions of human rights and there is an urgent need to have a fresh look at the vexed question of freedom of press *vis-à-vis* legislative privileges.

Date: 11-07-17

Reading between the numbers

A nuanced understanding of the population question is vital

Alaka M. Basu, a professor in the department of development sociology at Cornell University, is currently senior fellow, United Nations Foundation

July 11 has been designated by the United Nations as World Population Day. The UN chooses one aspect of population to draw attention to each year; this year the theme is access to family planning.As someone who teaches a semester-long course on 'population dynamics' (the changing interplay of population size, growth and distribution), I want to underline three related but distinct reasons why we should, or should not, as seekers of a healthy, wealthy and wise world for all its inhabitants, keep population dynamics in mind.

Let's set aside for the moment the UN's projection of India's population size overtaking China's by 2024.First, any development planning with a time horizon of more than a few years has to factor in the changing size of the base population and, therefore, the changing size of the resources needed to meet the requirements even if the per capita requirements remain unchanged. A simple and glaring example of this obvious calculation not having been made can be found in the insane competition for college admissions in our towns and cities, as the rise in the number of seats has not kept even modest pace with the rise in the number of those finishing secondary school and wanting to go on to college.

Demographic dividend

Virtually every development sector that requires investments will need a larger amount of such investment in different areas — like clinics, hospital beds, homes, schools, colleges and training institutes, jobs, social security, rural banks, piped water and policemen — as the absolute size of our population increases.It is not just about numbers, of course. What matters is how these additional numbers are distributed — by age, gender, education, income, marital status, geography, and so on. And we are still potentially at the peak of at least one of these distributions — that by age. Thanks to falling birth rates and only slowly rising longevity, we have this 'window of opportunity' or 'demographic dividend' during which the working-age population as a proportion of the total population is large enough in principle to supply many of these additional resources.

That advantage will begin to erode soon enough. Worse, even now, some of it is merely notional — we have a large number of young people but we do not have the skills or jobs for this to translate linearly into larger economic output. Indeed, what we might have instead is a translation into poorer social output as the rising per capita frustrations of life feed into antisocial behaviour — my euphemism for the ghastly outbreaks of amoral and immoral mob violence that it seems can be instigated at a moment's notice these days.Second, our population size and growth require us to reflect more deeply on the implications of this size and growth for development. Are we exceeding our carrying capacity nationally and globally? Are the rising population densities increasing the spread of infection through too much close contact between people? Are we using up water and forests and energy faster than we can replenish them?These are important questions, but get neglected by well-meaning researchers who, rightly, fear that any uncomfortable findings will quickly translate into a call for policies that penalise the weakest and the most vulnerable members of society and increase the already vast controls on women's bodies. We see this fear being justified in several official attempts to clamp down on the fertility of the poor or otherwise marginalised, Assam being the latest example of this kind of crude intrusion into private decisions. An even more horrifying recent example comes from the coercion and callousness that resulted in the deaths of several women in sterilisation camps in Chhattisgarh in 2014.

What our research needs is a better understanding of what population growth does to resources given the vast disparities in consumption between the rich (and usually low-fertility) and the poor (and high-fertility) populations. Second, it needs to publicise better the non-coercive and much more effective interventions that we know lead to falls in fertility everywhere — girls' education and women's easy access to voluntary contraception in particular. As more women get educated, several of the economic and social reasons for wanting many children begin to seem less important and it organically results in fewer births if the means to achieve this are known and available.

The third prong of interest in population and population growth comes from the dangerous competition for power and strength that pits different groups increasingly against one another in India today. This tragic competition plays out in some gruesome ways, of course; but it is also fuels a medieval belief that power lies merely in numbers. This quest for power means each group seeks to increase its own numbers and decrease those of 'others'; short of genocide, the latter cannot be easily done by deliberately increasing the death rate; so the other arm of population growth, births, is targeted. And we thus have the spectacle, for example, of presumably celibate and childless religious leaders of all hues (male as well as female, it appears in the case of Hindus) exhorting their followers to step up childbearing while condemning the unbridled reproduction of the 'other' side. In a world run by knowledge and technology, not only is this a foolish way to gain advantage, it again shifts the responsibility for group power on to women's exhausted bodies, their own desires and health be damned.

Denial of agency to women

We are not alone in this attitude. This reasoning lay behind the denial of contraception and abortion to 'Aryan' women in Nazi Germany even as pregnancies in others were often forcibly aborted; it lies in the recent call by the President of Turkey to Turkish immigrants in the West to multiply more rapidly; it explains the rash of incentives many European and East Asian countries now offer to women to have a second or third child to delay the inevitable fall in population numbers in these countries as long as they refuse to countenance immigration to replenish their labour forces.All these are poor examples for India to follow, for ethical reasons and because they more often than not boomerang. What women need is the right to make their own childbearing decisions and to have the information and services to make these decisions wisely and well. If this truly happens, the 'population' question will take care of itself.

राष्ट्रीय सहारा

Date: 11-07-17

मानव पूंजी को लाभप्रद बनाना

जुलाई 11, 1990 में प्रथम विश्व जनसंख्या दिवस का आरंभ किया गया और प्रतिवर्ष विश्व समुदाय **जनसंख्या** से संबंधित समस्याओं के प्रति जागरूकता लाते रहा है। पहले साल में ही 90 **देशों** ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इससे साबित होता है कि जनसंख्या की समस्या सभी के महत्त्वपूर्ण है। इस समस्या को हम दो तरीके से देख सकते हैं। बच्चे अमीरों के लिए निवेश और सामाजिक **उत्तरदायित्व** हैं और विकासशील देशों में गरीबों के लिए कमाई के साधन बन गए **हैं।इस** साल का मुख्य विषय ''परिवार कल्याण और विकासशील देशों में महिलाओं का सशक्तिकरण' रखा गया है। 1952 में भारत **परिवार** नियोजन शुरू करने वाला पहला देश बना, जो आज बड़े परिवार के बोझ तले दबा हुआ

है। विश्व बैंक के अनुमान के अनुसार भारत की जनसंख्या चीन के बाद दूसरा स्थान (1.31 अरब, 2015) है। इसके बाद अमेरिका, इंडोनेशिया, ब्राजील, पाकिस्तान, नाइजीरिया, बांग्लादेश, रूस और जापान हैं। भारत में जनसंख्या घनत्व 446 व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर है, जो 1951 में मात्र 117 था। यह विडम्बना है कि जनसंख्या की वार्षिक दर अभी भी 1.2 फीसद है। भारत ने ''परिवार विकास मिशन' के अंतर्गत बहुत सारे नीतिगत फैसले लेकर महत्त्वपूर्ण कदम उठाए हैं। इसमें गर्भनिरोधक पसंद और मीडिया के माध्यम से बच्चों के बीच अंतर आदि के लिए प्रयास किए गए हैं। दूसरी तरफ चीन ने अपनी ''एक बच्चा' नीति को हटा दिया। अमेरिका जैसे बड़े देशों में भी करीब आधे गर्भधारण अनचाहे होते हैं। भारत में भी गर्भपात को कानूनी जामा पहनाया गया है। दो बच्चों के बाद लोगों को नसबंदी के लिएप्रोत्साहित किया गया। प्रसव-अवकाश आदि की सुविधाएं बढ़ा दी गई। अब समय आ गया है कि कुछ सख्त कदम भी उठाए जाएं। मसलन; दो बच्चों के बाद प्रसव अवकाश जैसी सुविधाओं को न देना, एक बच्चे वाले परिवार को आयकर आदि सुविधाएं देने से काफी प्रोत्साहन मिलेगी और परिवार कल्याण और नियोजन में तेजी आएगी। विश्व जनसंख्या दिवस का मुख्य अभिप्राय जागरूकता लाना भी है। उत्तर प्रदेश सरकार ने नये विवाहित जोड़े को नई किट देने का निर्णय किया है। इसके अंतर्गत एक पुस्तिका के साथ कुछ सुझाव दिए जाएंगे जो सुरक्षित यौन संबंध और परिवार नियोजन से संबंधित हैं। दरअसल, ऐसे कार्यक्रम को सभी राज्यों में प्रसारित किए जाने की जरूरत है। अब समय आ गया है कि भारत जनसंख्या के हानि और लाभ का आकलन करे। भारत में विश्व का 2.4 फीसद भौगोलिक क्षेत्र है लेकिन विश्व की 17 फीसद जनसंख्या भारत में रहती है। करीब 15 फीसद विश्व की कृषि संबंधी पशु भारत में हैं जबकि विश्व का सिर्फ 1 प्रतिशत भारत में उपलब्ध है। जनसंख्या वृद्धि से संसाधनों के बीच असंतुलन पैदा हो जाता है, संसाधन की कमी से प्रतिस्पर्धा बढ़ती है और प्रतिस्पर्धा बढ़ने से संघर्ष भी पैदा होता है। भारत में अभी भी अशिक्षा और अकुशलता व्याप्त है। 46 फीसद युवा चौबीस साल से नीचे के हैं, जबकि 35 करोड़ 56 लाख लोग 10-24 वर्ष आयुवर्ग के होने के कारण सर्वाधिक युवा आबादी भारत में है। दूसरे स्थान पर चीन (27 करोड़) इंडोनेशिया (67 लाख), अमेरिका (65 लाख) और पाकिस्तान (48 लाख) है। जो अर्थव्यवस्था के लिए बोझ होता है। भारत सरकार को प्रधानमंत्री मोदी की जनांकिकी लाभ की ओर ले जाने की संकल्पना को साकार करने के लिए प्रभावी कदम उठाने होंगे। तभी ''न्यू इंडिया' की तरफ हम बढ़ पाएंगे। भारत में निर्भरता अनुपात 52 फीसद है, जिसमें युवा निर्भरता 44 फीसद और वृद्धा निर्भरता 9 प्रतिशत है। भारत की विभिन्न योजनाएं जैसे मेक इन इंडिया, स्किल इंडिया, स्टैंडअप प्रोग्राम, स्टार्ट अप प्रोग्राम और न्यू इंडिया से जोड़कर कार्यशीलता को बढ़ावा देकर मानव संसाधन को उच्च स्तर का बनाया जा सकता है। भारत में उपलब्ध अकुशल मानव संसाधनों को भारत की विकास गाथा और नीति-निर्धारण का अंग बनाना होगा। एक उदाहरण के तौर पर यह सुझाव देना जरूरी है कि देश में करीब 70 हजार से अधिक छात्र पीएच.डी. करने के लिए विभिन्न अंगों से छात्रवृत्ति पाते हैं, जिन पर सरकार का का खर्च 30 लाखसे ऊपर चार-पांच सालों में होता है। इसके बदले में 10 पेज का नीतिगत विवरण दस्तावेज और 10 पन्ने का आंकड़ा मांगा जाए और यूजीसी, सीएसआईआर और एआईसीटीई इसको इकट्ठा कर सरकार के विभिन्न मंत्रालयों में और नीति आयोग से जोड़े तो देश की भलाई के लिए बहुत सटीक व स्थानीय योजना बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। इस संबंध में ध्यान देने की जरूरत है कि भारत में जनसंख्या की गुणवत्ता को बढ़ाने में भी बहुत अहम भूमिका अदा कर सकता है। इस बारे में सामाजिक सुरक्षा और वृद्धावस्था में पूर्ण माफी के साथ स्वास्य सुविधा देना बहुत आवश्यक है। भारत में सामाजिक सुरक्षा नहीं होने के कारण लोग अधिक बच्चे पैदा करते हैं जो उन्हें वृद्धावस्था में सहारा दें। इस संबंध में एक और तय पर ध्यान देने की जरूरत है कि भारत के बहुत सारे क्षेत्रों में बेटे पैदा करने के चक्कर में बड़ा परिवार बन जाता है। इस तरह हमें बेटियों के प्रति लगाव और ज्यादा सुविधाएं देकर हम इस सामाजिक बुराई को कम करने में मदद कर सकते हैं। आज समय आ गया है कि भारत गुणवत्ता मानव संसाधन के लिए सम्मानजनक आर्थिक, पर्यावरणीय और संस्थागत नीतियों के द्वारा कारगर कदम उठाए और प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की न्यू इंडिया की तरफ तेजी से बढ़ सकें।